दिली ख्वाहिश यही रही कि राजू हमेशा फर्स्ट आए—किसी से पीछे न रहे। नहीं तो, मुझे आखिर किसलिए यह शिकायत है कि उसे जानते-बूझते 'फर्स्ट' नहीं आने दिया जाता? बदला लिया जा रहा है उससे?

क्या मैं भी अपने स्कूली दिनों में फर्स्ट आने को नहीं तरसता रहा? क्या मुझे भी शिकायत नहीं थी अध्यापकों से, अपने माँ-बाप से, जाने किस-किससे! अपने बच्चों के सामने जिस जमाने की खूबियाँ बखानते मैं नहीं थकता, क्या सचमुच उस जमाने से मुझे कोई शिकायत नहीं? क्या मेरे साथ भी अन्याय नहीं हुआ? क्या अच्छी-भली यादों के साथ-साथ खासी कड़वी यादों का भी एक लंबा सिलसिला मेरे भीतर दर्ज नहीं? फिर मैं काहे को ख्वाहमख्वाह अपने बच्चों को उलझाता हूँ इस सब में? वैसे भी वे क्या कोई कम परेशान हैं कि मैं ऊपर से एक और कुंठा उनमें जगाऊँ?

बेचारा राजू! 'तू है कौन स्कूल नहीं जाऊँगा कहनेवाला?' यही न मैंने कहा था उससे? वह भी तो पलट के पूछ सकता था मुझसे कि तुम कौन हो जो दो-दो दुविधाओं पर एक साथ सवारी गाँठना चाहते हो। एक ओर मेरे स्कूल पर लानत भेजते रहते हो आएदिन और दूसरी ओर उसी स्कूल में मेरे भविष्य की गारंटी खोजते हो। एक ओर इस पढ़ाई का मखौल उड़ाते हो और दूसरी ओर मुझसे यह उम्मीद भी करते हो कि मैं फर्स्ट आता रहूँ हर बार। जरा सा नीचे खिसका नहीं कि तुम्हारा मुँह लटक जाता है। क्या मैं नहीं जानता?···अपने जमाने की डींग हाँकते नहीं थकते तुम। अपने जमाने के डंडे से नए जमाने को पीटते रहते हो और तिसपर यह भी चाहते हो कि इसी जमाने की हर नेमत तुम्हारे बेटे पर ही निछावर हो। भला क्यों?

राजू यह सब नहीं सोच सकता। राजू यह सब मुझसे मेरे मुँह पर कह भी नहीं सकता। राजू केवल मेरी बौखलाहट से हतप्रभ हो जा सकता है या ज्यादा-से-ज्यादा वह बिफर सकता है। कह सकता है कि 'नहीं जाना चाहता मैं स्कूल, बस।' तो फिर··· ? तो फिर···क्या?

□

एम-४, निराला नगर,
भदभदा रोड, भोपाल-४६२००३

कविताएँ

नारी को संबोधित तीन कविताएँ

राजकुमार सैनी

: एक :

जी नहीं भरता कभी
चाहता रहता यही
भरता रहूँ
नासिका-पुटों में
तेरी ही गंध-सुगंध।

सुनता रहूँ तेरे ही स्वर, छंद
शब्द, अर्थ, लय और ताल
निहारता रहूँ तेरी ही चाल
पीता रहूँ, तेरा अमृत और विष
पाता रहूँ तेरे राग-विराग।

तेरे संसर्ग से हुआ एहसास
सौंदर्य आस्वाद का।
तेरे ही स्पर्श से पाया होश-दर-होश
अपने होने का।

तूने ही किया मदहोश-बेहोश।
तेरी ही कोख से जनमा था—
एक दिन; तेरी ही गोद में
हो मेरा अंत!

: दो :

चैन मिला जो
पहले-पहल
तेरे पहलू में,
नहीं मिला फिर
कभी कहीं
अवनि-अंबर में।

लौटा तेरे दर से
भटका कहाँ-कहाँ मैं
घाटी, जंगल, सागर-तटस्थल,
शैल-शिखर और बीच-भँवर में,
गहन गुह्वर में।

नहीं मिली वह शांति
मिली जो
आखिर
तेरे ही अंचल में।

: तीन :

किसी भी स्वरूप में
किसी अंतर्वस्तु में
हो तुम सुंदर!

कहीं भी, कैसी भी
नहीं होती कुरूप कभी
नहीं होती अप्रिया
मोह ही लेती है तुम्हारी
कोई-न-कोई अदा!
दृष्टिगोचर हो ही जाता है
कोई-न-कोई सौंदर्य।

बहन या पत्नी
माँ या बेटी
सखि अथवा प्रिया
गजगामिनी, हंसिनी,
शंखिनी, पद्मिनी।
तुम जो सताई हुई,
तुम जो उपेक्षिता,
त्यक्ता, परित्यक्ता,
पराधीना, मुक्ता,
कुमारिका, सधवा;
तुम जो विधवा!

पिलाऊँगा तुम्हें अपने अंतर का अमृत
जो चिर-संचित।
आदि से अंत तक
तुम्हारा, चिर-परिचित!
देख नहीं सकता मैं तुम्हारा चेहरा
उदास।
सिर से पाँव तक
धूप से छाँव तक
अर्पित, समर्पित!
मैं तुम्हारा आत्मीय मित्र आदिम,
अद्यतन, शाश्वत,
सनातन।

□

प्लाट नं. ७, फ्लैट नं. १२२, सेक्टर-४,
दिन अपार्टमेंट्स, द्वारका,
नई दिल्ली-११००४५